ऐतिहासिक चर्चा—

धर्मवीर लोंकाशाह

—**डा० तेजसिंह गौड़**, एम० ए०, पी-एच० डी०

कल्पसूत्र में भगवान महावीर के कल्याणकों का वर्णन करके दीवाली की उत्पत्ति और श्रमण-संघ के भविष्य का कुछ उल्लेख किया गया है। उसमें बताया गया है कि जिस समय भगवान महावीर का निर्वाण हुआ, उस समय उनके जन्म नक्षत्र पर भस्मराशि नामक महाग्रह का संक्रमण हुआ। जब से २००० वर्ष की स्थिति वाला भस्मग्रह महावीर की जन्म राशि पर आया तब से ही श्रमण संघ की उत्तरोत्तर सेवाभक्ति घटने लगी। भस्मग्रह के हटने पर २००० वर्ष बाद श्रमण संघ की उत्तरोत्तर उन्नति होगी।

इस बीच में धर्म और शासन को संकट का मुकाबला करना होगा। करीब-करीब इसी वचनानुसार शुद्ध निर्ग्रन्थधर्म और उसके पालकों का शनैः-शनैः अभाव-सा होता गया। विक्रम संवत् १५३० को जब २००० वर्ष पूरे हुए, तब लोंकाशाह ने विक्रम संवत् १५३१ में आगमानुसार साधुधर्म का पुनरुद्योत किया। उनके उपदेश से लखमशी, जगमालजी आदि ४५ पुरुषों ने एक साथ भागवती दीक्षा स्वीकार की, जिनमें कई अच्छे-अच्छे संघपति और श्रीपति भी थे। लोंकाशाह की वाणी में हृदय की सच्चाई और सम्यक्ज्ञान की शक्ति थी, अतएव बहुसंख्यक जनता को वे अपनी ओर आकर्षित कर सके। आगमों की युक्ति, श्रद्धा की शक्ति और वीतराग प्ररूपित शुद्ध धर्म के प्रति भक्ति होने के कारण लोंकाशाह क्रांति करने में सफल हो सके।[1]

लोंकाशाह के सम्बन्ध में विदुषी महासती श्री चन्दनकुमारीजी महाराज ने लिखा है, "उन्होंने स्वयं अपना परिचय अथवा अपनी परम्परा का उल्लेख कहीं भी नहीं किया है। परम्परागत वृत्तांतों तथा तत्कालीन कृतियों के आधार पर ही उनके इतिहास की जानकारी प्राप्त होती है। अनेक भण्डारों में भी उनके जीवन सम्बन्धी परिचय की प्राचीन सामग्री संग्रहीत है। श्रीमान् लोंकाशाह के जन्म संवत् के विषय में अनेक धारणाएँ प्रचलित हैं। कोई उनका जन्म[2] १४७५ में कोई १४८२ में तथा कोई १४७२ को प्रमाणित मानते हैं। इनमें वि० सं० १४८२ का वर्ष ही ऐतिहासिक दृष्टि से ठीक जँचता है। वि० सं० १४८२ कार्तिक पूर्णिमा के दिन गुजरात के पाटनगर अहमदाबाद में आपका जन्म होना माना जाता है। कुछ विद्वान् उनका जन्म "अरहट्टवाड़ा" नामक स्थान पर मानते हैं। यह ग्राम राजस्थान के सिरोही जिले में है।"

एक इतिहास लेखक ने उनका जन्म सौराष्ट्र प्रांत के लिम्बड़ी ग्राम में दशाश्रीमाली के घर में होना लिखा है। किसी ने सौराष्ट्र की नदी के किनारे बसे हुए नागवेश ग्राम में हरिश्चन्द्र सेठ की धर्मपत्नी मंधीबाई की कुक्षि से उनका जन्म माना है। कुछ लोग उनका जन्म जालौर[3] में मानते हैं। इन सभी प्रमाणों में अहमदाबाद का प्रमाण उचित जँचता है। क्योंकि अणहिलपुर पाटण के लखमसी श्रेष्ठि ने अहमदाबाद आकर ही उनसे धर्म-चर्चा की थी। अरहट्टवाड़ा, पाटन और सूरत

१ आदर्श विभूतियाँ, पृष्ठ ५-६
२ श्रीमद् राजेन्द्रसूरि स्मारक ग्रन्थ, पृष्ठ ४७०
३ पट्टावली प्रबन्ध संग्रह, पृष्ठ २७

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आदि संघों के नागजी, दुलीचन्दजी, मोतीचन्द्र तथा सम्भूजी ये चारों संघवी जब अहमदाबाद में आये थे तो उनका लोंकाशाह के घर जाना इस बात को सिद्ध करता है कि लोंकाशाह का जन्म स्थान अहमदाबाद ही होना चाहिए।[४] विनयचन्द्रजी कृत पट्टावली में भी अहमदाबाद रहना लिखा है।[५]

श्री अ० भा० श्वे० स्था० जैन कान्फ्रेन्स स्वर्ण जयन्ती ग्रन्थ में लिखा है, "धर्मप्राण लोंकाशाह के जन्मस्थान, समय और माता-पिता के नाम आदि के सम्बन्ध में भिन्न-भिन्न अभिप्राय मिलते हैं किन्तु विद्वान् संशोधनों के आधारभूत निर्णय के अनुसार श्री लोंकाशाह का जन्म अरहट्ट बाड़े में चौधरी गोत्र के ओसवाल गृहस्थ सेठ हेमाभाई की पवित्र पति-परायणा भार्या गंगाबाई की कूख से वि० सं० १४७२ कार्तिक शुक्ला पूर्णिमा को शुक्रवार ता० १८-७-१४१५ के दिन हुआ था।[६] श्री लोंकाशाह की जाति प्राग्वट भी मिलती है।[७] श्रावक-धर्म-परायण हेमाशाह के संरक्षण में बालक लोंकाशाह का बाल्यकाल सुख-सुविधापूर्वक व्यतीत हुआ। छः-सात वर्ष की आयु में उनका अध्ययन आरम्भ कराया गया। थोड़े ही वर्षों में उन्होंने प्राकृत, संस्कृत, हिन्दी आदि अनेक भाषाओं का ज्ञान प्राप्त कर लिया। मधुरभाषी होने के साथ-साथ लोंकाशाह अपने समय के सुन्दर लेखक भी थे। उनका लिखा हुआ एक-एक अक्षर मोती के समान सुन्दर लगता था। शास्त्रीय ज्ञान की उनके मन में विशेष रुचि थी। लोंकाशाह अपने सद्गुणों के कारण अपने पिता से भी अधिक प्रसिद्ध हो गये। जब वे पूर्ण युवा हो गये तब सिरोही के प्रसिद्ध सेठ शाह ओधवजी की सुपुत्री 'सुदर्शना' के साथ उनका विवाह कर दिया गया। विवाह के तीन वर्ष बाद उनके यहाँ पूर्णचन्द्र नामक पुत्र उत्पन्न हुआ।[८] लोंकाशाह का विवाह सं० १४८७ में हुआ। लोंकाशाह के तेईसवें वर्ष में माता का और चौबीसवें वर्ष में पिता का देहावसान हो गया।[९]

सिरोही और चन्द्रावती इन दोनों राज्यों के बीच युद्धजन्य स्थिति के कारण अराजकता और व्यापारिक अव्यवस्था प्रसारित हो जाने से वे अहमदाबाद आ गये और वहाँ जवाहिरात का व्यापार करने लगे। अल्प समय में ही आपने जवाहिरात के व्यापार में अच्छी ख्याति प्राप्त कर ली। अहमदाबाद का तत्कालीन बादशाह मुहम्मदशाह उनके बुद्धि-चातुर्य से अत्यन्त प्रभावित हुआ और लोंकाशाह को अपना खजांची बना लिया।[१०]

विदुषी महासती चन्दनकुमारीजी महाराज ने लिखा है, "कहते हैं एक बार मुहम्मदशाह के दरबार में सूरत से एक जौहरी दो मोती लेकर आया। बादशाह मोतियों को देखकर बहुत प्रसन्न हुआ। खरीदने की दृष्टि से उसने मोतियों का मूल्य जँचवाने के लिए अहमदाबाद शहर के सभी प्रमुख जौहारियों को बुलाया। सभी जौहरियों ने दोनों मोतियों को 'सच्चा' बताया। जब लोंका-

---

४ हमारा इतिहास, पृष्ठ ६०-६१

५ पट्टावली प्रबन्ध संग्रह, पृ० १३५

६ वही, पृष्ठ ३८

७ श्रीमद् राजेन्द्रसूरि स्मारक ग्रन्थ, पृष्ठ ४७०

८ हमारा इतिहास, पृष्ठ ६१-६२

९ स्वर्ण जयंती ग्रन्थ, पृष्ठ ३८

१० वही, पृष्ठ ३८

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शाह की बारी आई तो उन्होंने एक मोती को खरा और दूसरे को खोटा बताया। खोटे मोती की परख के लिए उसे एरन पर रख कर हथौड़े की चोट लगाई गई। चोट लगते ही उसके टुकड़े-टुकड़े हो गये। मोती की इस परीक्षा को देखकर सारे जौहरी आश्चर्यचकित हो गये। लोंकाशाह की विलक्षण बुद्धि देखकर बादशाह बहुत प्रसन्न हुआ। उसने उन्हें अपना कोषाध्यक्ष बना लिया। कुछ इतिहासकारों का मत है कि उन्हें अपने मन्त्री पद पर नियुक्त किया था। इस पद पर वे दस वर्ष तक रहे। इन्हीं दिनों चम्पानेर के रावल ने मुहम्मदशाह पर आक्रमण कर दिया। शत्रु के प्रति शिथिल नीति अपनाने के कारण उसके पुत्र कुतुबशाह ने जहर देकर अपने पिता को मार डाला। बादशाह की इस क्रूर हत्या से लोंकाशाह के हृदय पर बड़ा प्रभाव पड़ा। अब वे राजकाज से पूर्णतया विरक्त से रहने लगे। कुतुबशाह ने उन्हें राज्य प्रबन्ध में पुनः लाने के अनेक प्रयत्न किये, किन्तु श्रीमान् लोंकाशाह ने सब प्रलोभन अस्वीकार कर दिये।"[११]

श्री लोंकाशाह प्रारम्भ से ही तत्त्वशोधक थे। उन्होंने एक लेखक मण्डल की स्थापना की और बहुत से लहिये (लिखने वाले) रख कर प्राचीन शास्त्रों और ग्रन्थों की नकलें करवाने लगे तथा अन्य धार्मिक कार्य में अपना जीवन व्यतीत करने लगे। एक समय ज्ञानसुन्दरजी नाम के एक यति इनके यहाँ गोचरी के लिए आये। उन्होंने लोंकाशाह के सुन्दर अक्षर देखकर अपने पास के शास्त्रों की नकल कर देने के लिए कहा। लोंकाशाह ने श्रुत सेवा का यह कार्य स्वीकार कर लिया।[१२]

मेवाड़ पट्टावली में लिखा है, "एक दिन द्रव्यलिंगियों की स्थान चर्चा चली। भण्डार में शास्त्रों के पन्ने उद्दइयों ने खाये हैं। अतः लिखने की पूर्ण आवश्यकता है। श्री लोंकाशाह के सुन्दर अक्षर आते थे। अतः यह भार आप ही के ऊपर डाला गया। सर्वप्रथम दशवैकालिक सूत्र लिखा। उसमें अहिंसा का प्रतिपादन देखकर आपको इन साधुओं से घृणा होने लगी। परन्तु कहने का अवसर न देखकर कुछ भी न कहा। क्योंकि ये उलटे बनकर शास्त्र लिखाना बन्द कर देंगे। जबकि प्रथम शास्त्र में ही इस प्रकार ज्ञान रत्न है तो आगे बहुत होंगे। यों एक प्रति दिन में और एक प्रति रात्रि में लिखते रहे।

"एकदा आप तो राजभवन में थे और पीछे से एक साधु ने आपकी पत्नी से सूत्र माँगा। उसने कहा—दिन का दूँ या रात्रि का। उसने दोनों ले लिये और गुरु से कहा कि—अब सूत्र न लिखवाओ। लोंकाशाह घर आये। पत्नी ने सर्व वृत्तांत कह दिया। आपने संतोष से कहा—जो शास्त्र हमारे पास हैं उनसे भी बहुत सुधार बनेगा। आप घर पर ही व्याख्यान द्वारा शास्त्र प्ररूपने लगे। वाणी में मीठापन था। साथ ही शास्त्र प्रमाण द्वारा साधु आचार श्रवण कर बहुत प्राणी शुद्ध दयाधर्म अंगीकार करने लगे।"[१३]

विविध उद्धरणों को प्रस्तुत करते हुए श्री भँवरलाल नाहटा ने लिखा है, "पहले घर की अवस्था अच्छी हो सकती है, पर फिर आर्थिक कमजोरी आ जाने से उन्होंने अपनी आजीविका ग्रन्थों की नकल कर चलाना आरम्भ किया। उनके अक्षर सुन्दर थे। महात्माओं के पास सं० १५०८ के

---

११ हमारा इतिहास, पृष्ठ ६३-६४

१२ स्वर्ण जयन्ती ग्रन्थ, पृष्ठ ३८-३६

१३ पट्टावली प्रबन्ध संग्रह, पृष्ठ २८६

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

लगभग विशेष सम्भव है कि अहमदाबाद में लेखन-कार्य करते हुए कुछ विशेष अशुद्धि आदि के कारण उनके साथ बोलचाल हो गई। वैसे व्याख्यानादि श्रवण द्वारा जैन-साध्वाचार की अभिज्ञता तो थी ही और यति-महात्माओं में शिथिलाचार प्रविष्ट हो चुका था। इसलिए जब यतिजी ने विशेष उपालम्भ दिया तो रुष्ट होकर उनका मान भंग करने के लिए उन्होंने कहा कि शास्त्र के अनुसार आपका आचार ठीक नहीं है एवं लोगों में उस बात को प्रचारित किया। इसी समय पारख लखमसी उन्हें मिला और उसके संयोग से यतियों के आचार शैथिल्य का विशेष विरोध किया गया। जब यतियों में साधु के गुण नहीं हैं तो उन्हें वन्दन क्यों किया जाय? कहा गया। तब यतियों ने कहा—'वेष ही प्रमाण है। भगवान की प्रतिमा में यद्यपि भगवान के गुण नहीं फिर भी वह पूजी जाती है।' तब लुंका ने कहा कि—'गुणहीन मूर्ति को मानना भी ठीक नहीं और उसकी पूजा में हिंसा भी होती है। भगवान ने दया में धर्म कहा है।' इस प्रकार अपने मत का प्रचार करते हुए कई वर्ष बीत गये। सं० १५२७ और सं० १५३४ के बीच विशेष सम्भव सं० १५३०-३१ में भाणां नामक व्यक्ति स्वयं दीक्षित होकर इस मत का प्रथम मुनि हुआ। इसके बाद समय के प्रवाह से यह मत फैल गया।"[१४]

विनयचन्द्रजी कृत पट्टावली का विवरण भी उल्लेखनीय है। उसके अनुसार, "एक दिन गच्छधारी यति ने विचारा और भण्डार में से सारे सूत्रों को बाहर निकालकर संभालना प्रारम्भ किया तो देखा कि सूत्रों को उदई चाट गई है और तब से वे सोच करने लगे। उस समय गुजरात प्रदेशान्तर्गत अहमदाबाद शहर में ओसवाल वंशीय लोंकाशाह नाम के दफ्तरी रहते थे। एक दिन लोंकाशाह प्रसन्नतापूर्वक उपाश्रय में गुरुजी के पास गए तो वहाँ साधु ने कहा कि—"श्रावकजी सिद्धांत लिखकर उपकार करो। यह संघ सेवा का काम है।" लोंकाशाह ने यतिजी से सारा वृत्तांत सुनकर कहा कि—"आपकी आज्ञा शिरोधार्य है।" और सबसे पहले दशवैकालिक की प्रति लेकर अपने घर चले गये। प्रतिलिपि करते समय लोंकाशाह ने जिनराज के वचनों को ध्यान से पढ़ा। पढ़कर मन में विचार किया कि वर्तमान गच्छधारी सभी साध्वाचार से भ्रष्ट दिखाई देते हैं। लोंकाशाह ने लिखते समय विचार किया कि यद्यपि ये गच्छधारी साधु अधर्मी है तथापि अभी इनके साथ नम्रता से ही व्यवहार करना चाहिए। जब तक शास्त्रों की पूरी प्रतियाँ प्राप्त नहीं हो जातीं तब तक इनके अनुकूल ही चलना चाहिए। ऐसा विचार कर उन्होंने समस्त आलस्य का त्याग कर दो-दो प्रतियाँ लिखनी प्रारम्भ कीं। वीतराग-वाणी (सूत्र) को पढ़कर उन्होंने बड़ा सुख माना और तन, मन, वचन से अत्यन्त हर्षित हुए।

अपने लेखन के संयोग को उन्होंने पूर्वजन्म का महान् पुण्योदय माना तथा उसी के प्रभाव से तत्त्व-ज्ञान रूप अपूर्व वस्तु की प्राप्ति को समझा। दशवैकालिक सूत्र के प्रथम अध्ययन की प्रथम गाथा में धर्म का लक्षण बताते हुए भगवान ने अहिंसा, संयम और तप को प्रधानता दी है।

दशवैकालिक सूत्र के प्रथम अध्ययन की प्रथम गाथा इस प्रकार है—

धम्मो मंगलमुक्किट्ठं, अहिंसा संजमो तवो।
देवावि तं नमंसंति, जस्स धम्मे सया मणो ॥१॥

लोंकाशाह यह पढ़कर अत्यन्त प्रसन्न हुए।

---

१४ श्रीमद् राजेन्द्रसूरि स्मारक ग्रन्थ, पृष्ठ ४७५-७६

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ये गच्छधारी साधु कल्याण रूप अहिंसा के मार्ग को त्याग कर, मूढ़तावश हिंसा में धर्म मानने लगे हैं। इस प्रकार लोंकाशाह के मन में आश्चर्य हुआ। उन्होंने दशवैकालिक सूत्र की दो प्रतियाँ लिखीं।

उस प्रतापी लोंकाशाह ने उन लिखित दो प्रतियों में से एक अपने घर में रखी और दूसरी भेषधारी यति को दे दी। इसी तरह लिखने को अन्यान्य सूत्र लाते रहे और एक प्रति अपने पास रख कर दूसरी यति को पहुँचाते रहे। इस प्रकार उन्होंने सम्पूर्ण बत्तीस सूत्रों को लिख लिया और परमार्थ के साथ-साथ शास्त्र-ज्ञान में प्रवीण बन गए। इसी समय भस्मग्रह का योग भी समाप्त हुआ और वीर निर्वाण के दो हजार वर्ष भी पूरे होने को आये।

संवत् १५३१ में धर्मप्राण लोंकाशाह ने धर्म का शुद्ध स्वरूप समझकर लोगों को समझाया कि साधु का धर्ममार्ग अत्यन्त कठिन अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह रूप पंच महाव्रत वाला है। मुनिधर्म की विशेषता बताते हुए उन्होंने कहा कि—पांच समिति और तीन गुप्ति की जो आराधना करते हैं, सत्रह प्रकार के संयम का पालन करते हैं, हिंसा आदि अठारह पापों का भी सेवन नहीं करते और जो निरवद्य भँवर—भिक्षा ग्रहण करते हैं, वे ही सच्चे मुनि हैं। जो बयालीस दोषों को टालकर गाय की तरह शुद्ध आहार-पानी ग्रहण करते हैं, नव बाड़ सहित पूर्ण ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करते हैं तथा बारह प्रकार की तपस्या करके शरीर को कृश करते हैं, इस प्रकार जो शुद्ध व्यवहार का पालन करते हैं, उन्हें ही उत्तम साधु कहना चाहिए। आज के जो मतिविहीन मूढ़ भेषधारी हैं वे लोभारुढ़ होकर हिंसा में धर्म बताते हैं। इसलिए इन भेषधारी साधुओं की संगति छोड़कर स्वयंमेव सूत्रों के अनुसार धर्म की प्ररूपणा करने लगे। लोंकाशाह ने मन में ऐसा विचार किया कि सन्देह छोड़कर अब धर्म-प्रचार करना चाहिए।"[१५]

मन्दिरों, मठों और प्रतिमाग्रहों को आगम की कसौटी पर कसने पर उन्हें मोक्ष-मार्ग में कहीं पर भी प्रतिमाओं की प्रतिष्ठा का विधान नहीं मिला। शास्त्रों का विशुद्ध ज्ञान होने से अपने समाज की अन्ध-परम्परा के प्रति उन्हें ग्लानि हुई। शुद्ध जैनागमों के प्रति उनमें अडिग श्रद्धा का आविर्भाव हुआ। उन्होंने दृढ़तापूर्वक घोषित किया कि—"शास्त्रों में बताया हुआ निर्ग्रन्थ धर्म आज के सुखाभिलाषी और सम्प्रदायवाद को पोषण करने वाले कलुषित हाथों में जाकर कलंक की कालिमा से विकृत हो गया है। मोक्ष की सिद्धि के लिए मूर्तियों अथवा मन्दिरों की जड़ उपासना की आवश्यकता नहीं है किन्तु तप, त्याग और साधना के द्वारा आत्म-शुद्धि की आवश्यकता है।"

अपने इस दृढ़ निश्चय के आधार पर उन्होंने शुद्ध शास्त्रीय उपदेश देना प्रारम्भ किया। भगवान महावीर के उपदेशों के रहस्य को समझकर उनके सच्चे प्रतिनिधि बनकर ज्ञान-दिवाकर धर्मप्राण लोंकाशाह ने अपनी समस्त शक्ति को संचित कर मिथ्यात्व और आडम्बर के अन्धकार के विरुद्ध सिंहगर्जना की। अल्प समय में ही अद्भुत सफलता मिली। लाखों लोग उनके अनुयायी बन गये। सत्ता के लोलुपी व्यक्ति लोंकाशाह की यह धर्मक्रान्ति देखकर घबरा गये और यह कहने लगे कि "लोंकाशाह नाम के एक लहिये ने अहमदाबाद में शासन के विरोध में विद्रोह खड़ा कर दिया है। इस प्रकार उनके विरोध में उत्सूत्र प्ररूपणा और धर्म-भ्रष्टता के आक्षेप किये जाने लगे।"[१६] इसी तारतम्य में मुनिश्री ज्ञानसुन्दरजी महाराज का लोंकाशाह विषयक कथन दृष्टव्य है,

१५ पट्टावली प्रबन्ध संग्रह, पृष्ठ १३४ से १३९

१६ स्वर्ण जयन्ती ग्रन्थ, पृष्ठ ३९

Jain Education International . For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

"लोंकाशाह न तो विद्वान् था और न आपके समकालीन कोई आपके मत में ही विद्वान् हुआ। यही कारण है कि लोंकाशाह के समकालीन किसी के अनुयायी ने लोंकाशाह का जीवन नहीं लिखा, इतना ही नहीं पर लोंकाशाह के अनुयायियों को यह भी पता नहीं था कि लोंकाशाह का जन्म किस ग्राम में, किस कुल में हुआ था; किस कारण से उन्होंने संघ में भेद डाल नया मत खड़ा किया तथा लोंकाशाह के नूतन मत के क्या सिद्धांत थे इत्यादि।"[१७] जन्मस्थान, जन्मतिथि, कुल आदि कुछ ऐसी बातें हैं जो लोंकाशाह ही नहीं अनेक जैनाचार्यों की भी नहीं मिलती अथवा मिलती हैं तो विवादास्पद हैं। इसलिए इन सबके लिए मैं यहाँ कुछ लिखना उचित नहीं समझता हूँ। हाँ, इतना अवश्य कहूँगा कि आज भी देश में एक विशाल समुदाय उनको मानता है। वे भले ही एक सामान्य पुरुष रहे हों किन्तु उनकी असाधारणता इसी में है कि श्री ज्ञानसुन्दर मुनिजी ने अपने ग्रन्थ में लोंकाशाह की जन्मतिथि, जन्मस्थान, जाति तथा नवीन मत आदि पर ऐतिहासिक दृष्टि से विचार किया है। और इस प्रकार लेखक महोदय ने स्वयं ही लोंकाशाह का न केवल महत्व स्वीकार किया है वरन् एक ऐतिहासिक पुस्तक (भले ही विरोधी) लिखकर उन्हें प्रसिद्ध और लोक-प्रिय किया है।

गच्छवासी लोग उनके विविध दोष बतलाते और उनका विरोध करते। समाज में यह भ्रांति फैलाई जाने लगी कि लोंकाशाह पूजा, पौषध और दान आदि नहीं मानता। विरोधभाव से इस प्रकार के कई दोष विरोधियों द्वारा लगाये गये किन्तु वास्तव में लोंकाशाह धर्म का या व्रत का नहीं; अपितु धर्मविरोधी ढोंग आडम्बर का निषेध करते थे। उनका मत था कि हमारे देव वीतराग एवं अविकारी हैं अतः उनकी पूजा भी उनके स्वरूपानुकूल ही आडम्बररहित होनी चाहिए।[१८]

विरोधी लोगों का यह कथन कि लोंकाशाह व्रत, पौषध आदि को नहीं मानता; मात्र धर्म-प्रेमी जनसमुदाय को बहकाने के लिए था। वास्तव में लोंकाशाह ने व्रत या तप का नहीं किन्तु धर्म में आये हुए बाह्य क्रियावाद यानि आडम्बर आदि विकारों का ही विरोध किया था। जैसा कि कबीर ने भी अपने समय में बढ़ते हुए मूर्तिपूजा के विकारों के लिए जनसमुदाय को ललकारा था। यही बात लोंकाशाह ने भी कही थी। वीतराग के स्वरूपानुकूल निर्दोष भक्ति से उनका कोई विरोध नहीं था।[१९]

लोंकाशाह ने दया, दान, पूजा और पौषध की करणी में आडम्बर एवं उजमणा आदि की प्रणाली को ठीक नहीं माना। उन्होंने कर्मकाण्ड में आये हुए विकारों का शोधन किया और सर्व-साधारणजन भी सरलता से कर सकें, वैसी निर्दोष प्रणाली स्वीकार की। उन्होंने पूजनीय के सद्गुणों की ही पूजा को भवतारिणी माना। आरम्भ को धर्म का अंग नहीं माना, क्योंकि पूर्वाचार्यों ने **"आरम्भेण नित्थ दया"** इस वचन से हिंसा रूप आरम्भ में दया नहीं होती, यह प्रमाणित किया।[२०]

---

१७ श्रीमान् लोंकाशाह, पृष्ठ २

१८ श्री जैन आचार्य चरितावली, पृष्ठ ८५

१९ वही, पृष्ठ ८५

२० वही, पृष्ठ ८६

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शास्त्र-वाचन करते हुए लोंकाशाह को बोध हुआ। उन्होंने समझा कि वस्तु के नाम-रूप या द्रव्य पूजनीय नहीं हैं। पूजनीय तो वास्तव में वस्तु के सद्गुण हैं। लोंकाशाह की इस परम्परा विरोधी नीति से लोगों में रोष बढ़ना सहज था। गच्छवासियों ने शक्ति भर इनका विरोध किया, पर ज्यों-ज्यों विरोध बढ़ता गया, त्यों-त्यों उनकी ख्याति व महिमा भी बढ़ती गई। जो अल्पकाल में ही देशव्यापी हो गई। गुजरात, पंजाब, उत्तर प्रदेश और राजस्थान में चारों ओर—लोंकागच्छ का प्रचार-प्रसार हो गया। लोंकाशाह के मन्तव्य की उपादेयता इसी से प्रमाणित है कि अल्पतम समय में ही उनके विचारों का सर्वत्र आदर हुआ।[२१]

लोंकाशाह सम्बन्धी समाचार अनहिलपुर पाटन वाले श्रावक लखमशीभाई को मिले। लखमशीभाई उस समय के प्रतिष्ठित सत्ता-सम्पन्न तथा साधन-सम्पन्न श्रावक थे। लोंकाशाह को सुधारने के विचार से वे अहमदाबाद में आये। उन्होंने लोंकाशाह के साथ गम्भीरतापूर्वक बातचीत की। अन्त में उनको भी समझ में आ गया कि लोंकाशाह की बात यथार्थ है और उनका उपदेश आगम के अनुसार ही है।[२२]

इसी प्रकार मूर्ति-पूजा विषयक चर्चा में भी उनकी समझ में आ गया कि मूर्तिपूजा का मूल आगमों में कहीं भी वर्णन नहीं है। इस पर जो लखमशी लोंकाशाह को समझाने के लिए आये थे, वे खुद समझ गये। लोंकाशाह की निर्भीकता और सत्यप्रियता ने उन्हें अत्यधिक प्रभावित किया और वे स्वयं लोंकाशाह के शिष्य बन गये। यह घटना वि० सं० १५२८ की है।[२३]

श्री लखमशीभाई के शिष्यत्व स्वीकार कर लेने के कुछ समय बाद सिरोही, अरट्टवाड़ा, पाटण और सूरत के चारों संघ यात्रा करते हुए अहमदाबाद आये। यहाँ श्री लोंकाशाह के साथ चारों संघों के संघपति नागजी, दलीचन्दजी, मोतीचन्दजी और शंभुजी इन चारों प्रमुख पुरुषों ने अनेक तत्त्वचर्चाएँ कीं। लोंकाशाह की पवित्र वाणी का उन पर इतना प्रभाव पड़ा कि संघ समूह में से ४५ पुरुष श्री लोंकाशाह की प्ररूपणा के अनुसार दीक्षा लेने को तैयार हो गये। यहाँ श्री लोंकाशाह की प्ररूपणा के अनुसार दीक्षा लेने का प्रसंग भी यही प्रमाणित करता है कि वे उस समय तक स्वयं दीक्षित नहीं हुए थे। गृहस्थावस्था में ही उन्होंने इन ४५ पुरुषों को प्रतिबोध दिया था। कहते हैं कि हैदराबाद की ओर विचरण करने वाले श्री ज्ञानजी मुनि को अहमदाबाद पधारने की प्रार्थना की गई। श्री मुनिराज २१ मुनिराजों के साथ अहमदाबाद पधारे। वि० सं० १५२८ वैशाख शुक्ला अक्षय तृतीया के दिन ४५ पुरुषों को भागवती जैन दीक्षा प्रदान की गई।[२४] स्वर्ण जयन्ती ग्रन्थ में दीक्षा प्रसंग की तिथि वैशाख शुक्ला ३ सं० १५२७ दी गई है।[२५] जबकि आचार्य श्री हस्तीमलजी महाराज भाणाजी आदि के मुनिव्रत धारण करने की तिथि सं० १५३१ मानते हैं।[२६] मरुधर पट्टावली के अनुसार वि० सं० १५३१ वैशाख शुक्ला तेरस को दीक्षा सम्पन्न हुई।[२७]

---

२१ श्री जैन आचार्य चरितावली, पृष्ठ ८६
२२ स्वर्ण जयन्ती ग्रन्थ, पृष्ठ ३९
२३ हमारा इतिहास, पृष्ठ ९६
२४ वही, पृष्ठ ९८
२५ वही, पृष्ठ ४०
२६ श्री जैन आचार्य चरितावली, पृष्ठ ८७
२७ पट्टावली प्रबंध संग्रह, पृष्ठ २५५

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मेवाड़ पट्टावली में यही तिथि वीर संवत् २०२३ दी गई है।[२८] जो वि० सं० १५५३ होती है। यह तिथि विचारणीय है क्योंकि इसके पूर्व उनके स्वर्गवास होने के प्रमाण प्राप्त होते हैं। अस्तु यह तिथि त्रुटिपूर्ण प्रतीत होती है। खम्भात पट्टावली के अनुसार ४५ व्यक्तियों को भागवती जैन दीक्षा वि० सं० १५३१ में सम्पन्न हुई।[२९] प्राचीन पट्टावली में भी तिथि १५३१ मिलती है।[३०] चूंकि अधिक संख्या में तिथि सं० १५३१ प्राप्त होती है, इसलिए हमें भी यही तिथि स्वीकार करने में किसी प्रकार की आपत्ति नहीं होनी चाहिए।

जिन ४५ व्यक्तियों ने लोंकाशाह से प्रभावित होकर दीक्षा ग्रहण की उसके पूर्व की घटना का रोचक विवरण श्री विनयचन्द्रजी कृत पट्टावली में मिलता है। हमारे लिए भी यह एक विचारणीय प्रश्न है कि बिना किसी बात के संघ के लोगों को किस आधार पर लोंकाशाह ने धर्म सन्देश दिया अथवा उचित-अनुचित की ओर ध्यान आकर्षित किया। जब हम उक्त विवरण पढ़ते हैं तो हमारे सामने सम्पूर्ण स्थिति स्पष्ट हो जाती है और तब इस बात का औचित्य प्रमाणित हो जाता है कि क्यों लोंकाशाह ने धर्म सन्देश फरमाया। तो आप भी उन विवरण को देखिये—

"अरहट्टवाड़ा के सेठ श्रावक लखमसींह ने तीर्थयात्रा के लिए एक विशाल संघ निकाला। साथ में वाहन रूप में कई गाड़ियाँ और सेजवाल भी थे। धर्म के निमित्त द्रव्य खर्च करने की उनमें बड़ी उमंग थी। रास्ते में अतिवर्षा होने के कारण संघपति ने पाटन नगर में संघ ठहरा दिया और संघपति प्रतिदिन लोंकाशाह के पास शास्त्र सुनने जाने लगे और सुनकर मन ही मन बड़े प्रसन्न होने लगे। एक दिन संघ में रहे हुए भेषधारी यति ने संघपति से कहा—संघ को आगे क्यों नहीं बढ़ाते? इस पर संघपति ने उनको समझाकर कहा—'महाराज! वर्षा ऋतु के कारण मार्ग में हरियाली और कोमल नवांकुर पैदा हो गये हैं तथा पृथ्वी पर असंख्य चराचर जीव उत्पन्न हो गए हैं। पृथ्वी पर रंग-बिरंगी लीलण-फूलण भी हो गई है, जिससे संघ को आगे बढ़ाने से रोक रहे हैं। वर्षा ऋतु में जमीन जीवसंकुल बन जाती है, अतः ऐसे समय में अनावश्यक यातायात वर्जित हैं।' संघपति के करुणासिक्त वचन सुनकर भेषधारी बोले कि 'धर्म के काम में हिंसा भी हो, तो कोई दोष नहीं है।' यति की बात सुनकर संघपति ने कहा कि 'जैनधर्म में ऐसी पोल नहीं है। जैनधर्म दया-युक्त एवं अनुपम धर्म है। मुझे आश्चर्य है कि तुम उसे हिंसाकारी अधर्म रूप कहते हो।' संघपति ने यति से आगे कहा कि—'तुम्हारे हृदय में करुणा का लेश भी नहीं है, जिसको कि अब मैंने अच्छी तरह देख लिया है। ए! भेषधारी संभलकर वचन बोल।' संघपति की यह बात सुनकर वह भेषधारी यति पीछे लौट गया। लोंकाशाह के उपदेश से प्रभावित होकर संघपति ने पैंतालीस व्यक्तियों के साथ स्वयं मुनिव्रत स्वीकार किया। उनमें भानजी, नूनजी, सखोजी और जगमालजी अत्यन्त दयालु एवं विशिष्ट सन्त थे। उन पैंतालीस में ये चार प्रमुख थे और जो शेष थे वे भी सच्चे अर्थों में निश्चित रूप से उत्तम पुरुष थे। उन्होंने जप, तप आदि क्रिया करके सम्यक् प्रकार से गुण भण्डार जिनधर्म को दिपाया।"[३१]

---

२८ पट्टावली प्रबन्ध संग्रह, पृष्ठ २६०

२९ वही, पृष्ठ २०२

३० वही, पृष्ठ १८२

३१ वही, पृष्ठ १३९ से १४१

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

श्री लोंकाशाह की विशेष प्रेरणा से ये दीक्षाएँ हुई थीं अत: इसी स्मृति में यहाँ पर समस्त मुनियों के संगठन का नाम लोंकागच्छ रखा गया।[३२]

यहाँ एक प्रश्न उपस्थित होता है कि जिन लोंकाशाह की प्रेरणा से पैंतालीस व्यक्तियों ने मुनिव्रत स्वीकार किया, क्या उन लोंकाशाह ने स्वयं मुनिव्रत स्वीकार किया था अथवा नहीं ? इस सम्बन्ध में दो विचारधाराएँ प्रचलित हैं—एक मत यह स्वीकार करता है कि लोंकाशाह ने मुनिधर्म स्वीकार किया था तथा दूसरा मत इसके विपरीत कहता है कि लोंकाशाह ने दीक्षा नहीं ली थी। अस्तु हम संक्षेप में दोनों मतों का अध्ययन करना उचित समझते हैं—

स्वर्ण जयन्ती ग्रन्थ में लिखा है कि लोंकाशाह की आगम मान्यता को अब बहुत अधिक समर्थन मिलने लगा था। अब तक तो वे अपने पास आने वालों को ही समझाते और उपदेश देते थे, परन्तु जब उन्हें विचार हुआ कि क्रियोद्धार के लिए सार्वजनिक रूप से उपदेश करना और अपने विचार जनता के समक्ष उपस्थित करना आवश्यक है, तब उन्होंने वैशाख शुक्ला ३ संवत् १५२६ ता० ११-४-१४७३ से सरेआम सार्वजनिक उपदेश देना प्रारम्भ कर दिया। इनके अनुयायी दिन-प्रतिदिन बढ़ने लगे। स्वभावत: ये विरक्त तो थे ही किन्तु अब तक कुछ कारणों से दीक्षा नहीं ले सके। जबकि क्रियोद्धार के लिए यह आवश्यक था कि उपदेशक पहले स्वयं आचरण करके बताये अत: मिगसर शुक्ला ५ सं० १५३६ को ज्ञानजी मुनि के शिष्य सोहनजी से आपने दीक्षा अंगीकार कर ली। अल्प समय में ही आपके ४०० शिष्य और लाखों श्रावक आपके श्रद्धालु बन गये।[३३] मरुधर पट्टावली के अनुसार लोंकाशाह ने दीक्षा ली थी।[३४] दरियापुरी सम्प्रदाय पट्टावली ने उन्हें ४६वें आचार्य के रूप में बताया है और लिखा है, "केटलाक कहे छे के लोंकाशाहे थे। सं० १५०६ मी पाटण मा सुमतिविजय पासे दीक्षा लीधी अने लक्ष्मीविजय नामधारण करी ४५ जणा ने दीक्षा ग्रहण करावी। अने केटलाक कहे छे के दीक्षा ग्रहण करी नथी अने संसार मां रहीने ४५ जणा ने दीक्षा अपावी।"[३५] इस प्रकार यहाँ हम देखते हैं कि इस मत को मानने वालों में ही अन्तर्विरोध दिखाई देता है। क्योंकि एक स्थान पर उनके दीक्षागुरु का नाम श्री सोहन मुनिजी मिलता है तो दूसरे स्थान पर सुमतिविजय मिलता है। इसमें वास्तविकता क्या है ? निश्चित रूप से कुछ भी नहीं कहा जा सकता है। यद्यपि पट्टावलियों के भी प्रमाण हैं।

दूसरे मतानुसार विद्वान् उन्हें गृहस्थ ही स्वीकार करते हैं। उनके पास अनेक प्राचीन पट्टावलियों के प्रमाण हैं जिनमें लोंकाशाह को गृहस्थ स्वीकार किया गया है। वि० सं० १५४३ के लावण्यसमय कवि ने अपनी चौपाइयों में स्पष्ट लिखा है कि लोंकाशाह पौषध, प्रतिक्रमण तथा पच्चक्खाण नहीं करता था। वह जिन-पूजा, अष्टापद तीर्थ तथा प्रतिमा प्रसाद का भी विरोध करता था। इससे यह तो स्पष्ट होता है कि यदि श्री लोंकाशाह दीक्षित होते तो उन पर पौषध आदि क्रियाओं के न करने का आरोप न लगाया जाता। कुछ भी हो, भले ही उन्होंने द्रव्यरूप से दीक्षा न ग्रहण की हो पर उनके भाव तो दीक्षारूप ही थे। वे एक आदर्श गृहस्थ थे। उनका जीवन

---

३२ हमारा इतिहास, पृष्ठ ६८-६६

३३ वही, पृष्ठ ४०

३४ पट्टावली प्रबंध संग्रह, पृष्ठ २५५

३५ वही, पृष्ठ २६६

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

संयम पोषक था। विक्रम संवत् १५०६ में पाटण में श्री सुमतिविजयजी के पास उनके दीक्षित होकर श्री लक्ष्मीविजय नाम से प्रसिद्ध होने के प्रमाण में भी कुछ तथ्य नहीं दीखता।[३६] यहाँ एक प्रश्न उठता है कि दीक्षा लेने के उपरान्त दीक्षा नाम परिवर्तित होकर पुनः वही जन्म या गृहस्थ नाम का प्रवचन हो जाता है क्या? क्योंकि लोंकाशाह के सम्बन्ध में ही यह प्रश्न आता है। यदि हम यह स्वीकार करते हैं कि उन्होंने दीक्षा ग्रहण की थी और उनका लक्ष्मीविजय नाम रखा गया था तो फिर वे कौनसी परिस्थितियाँ उपस्थित हो गईं जिनके अन्तर्गत पुनः उनका नाम लोंकाशाह रखा गया। मैं सोचता हूँ कि ऐसा कहीं होता नहीं है। श्री मोती ऋषि जी महाराज ने लिखा है, "इस समय श्रीमान् लोंकाशाहजी गृहस्थ अवस्था में रहते हुए भी पूरी तरह शासन की प्रभावना में तल्लीन हो गये थे। आपके एक अनुयायी और भक्त सज्जन ने आपको दीक्षा लेने का सुझाव दिया था। परन्तु आपने कहा कि मेरी वृद्धावस्था है। इसके अतिरिक्त गृहस्थावस्था में रहकर मैं शासन प्रभावना का कार्य अधिक स्वतन्त्रता के साथ कर सकूँगा। फलतः आप दीक्षित नहीं हुए, मगर जोर-शोर से संयम-मार्ग का प्रचार करने लगे।[३७] वृद्धावस्था वाली बात समझ में आती है। क्योंकि वृद्धावस्था में यदि वे दीक्षा लेते और मुनिव्रत का पूर्णरूपेण पालन नहीं कर पाते तो शिथिलाचार आ जाता। शिथिलाचार के विरुद्ध ही तो उनका शंखनाद था। इससे ऐसा लगता है कि यद्यपि न केवल उनके दीक्षा ग्रहण करने का प्रकरण वरन् उनके समस्त जीवन से सम्बन्धित घटनाओं पर ही मतभेद है तो भी ऐसा कह सकते हैं कि वे गृहस्थ होते हुए भी किसी दीक्षित सन्त के समान भाव वाले थे और उन्होंने जो कुछ भी किया उसके परिणामस्वरूप स्थानकवासी जैन संघ आज सम्पूर्ण भारत में पाया जाता है।

लोंकागच्छ और तदुपरांत स्थानकवासी नाम की परम्परा चल पड़ने के सम्बन्ध में विदुषी महासती श्री चन्दनकुमारीजी महाराज साहब ने इस प्रकार लिखा है "उनके अनुयायियों ने अपने उपकारी के उपकारों की स्मृति के लिए ही लोंकागच्छ की स्थापना की थी। उनकी भावना भी इसे साम्प्रदायिक रूप देने की नहीं थी। वास्तव में लोंकागच्छ एक अनुशासनिक संस्था थी। साधु समाज के पुनर्निर्माण में इस संस्था का पूरा-पूरा योग रहा था। इतिहास में केवल लोंकागच्छ का नाम ही यत्र-तत्र देखने में आता है। अन्य किसी भी नाम का कोई उल्लेख नहीं मिलता। तत्कालीन साधु-समाज के रहन-सहन, वेशभूषा आदि का भी कोई समुचित उल्लेख नहीं मिलता। श्रीमान लोंकाशाह के बाद लोंकागच्छ किस नाम से प्रचलित रहा, यह अत्यन्त शोध का विषय है। इतना तो अवश्य निश्चित है कि वर्तमान में प्रचलित श्वेताम्बर स्थानकवासी जैन समाज लोंकागच्छ की वर्तमान-कालीन कड़ी है। इसी समाज में हमें आज सही रूप में लोंकाशाह-सिद्धान्त के दर्शन होते हैं। आज के "धर्म स्थानक" प्राचीन श्रावकों की पौषधशालाओं के रूपान्तर हैं। स्थानकों में धर्म-ध्यान करने के कारण जनता इन्हें स्थानकवासी कहने लगी। प्रारम्भ में स्थानकवासी शब्द श्रावकों के लिए प्रयुक्त हुआ था। बाद में श्रावक समाज के परम-आराध्य मुनिराजों के लिए भी इसका प्रयोग होने लग गया। स्थानक-शब्द एक गुण-गरिमापूर्ण शास्त्रीय शब्द है। जैन शास्त्रों में चौदह गुण-स्थानकों का वर्णन आता है। इन गुणस्थानों में आत्मा के क्रमिक विकास का इतिहास निहित है। अथवा इसे यों भी कह सकते हैं कि गुण-स्थानक मोक्ष-

---

३६ हमारा इतिहास, पृष्ठ ६७-६८

३७ ऋषि सम्प्रदाय का इतिहास, पृष्ठ ७

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

धाम की चौदह सीढ़ियाँ हैं। हमारे धर्म-स्थानों के लिए प्रयुक्त 'स्थानक' शब्द के पीछे भी एक धार्मिक परम्परा का इतिहास है।"[३८]

मुझे ऐसा लगता है कि 'लोंकागच्छ' के नाम का परिवर्तन स्थानकवासी में हुआ। क्यों ? व कैसे ? जिन ४५ अनुयायियों ने लोंकाशाह के नाम से लोंकागच्छ नाम रखा, वह उस समय तो चलता रहा। कालान्तर में धर्म-साधना हेतु 'स्थान' विशेष का उपयोग होने लगा तथा वहीं शास्त्र-वाचन एवं साधु-सन्त ठहरने लगे और वह 'स्थान' प्रतीक स्वरूप 'स्थानक' नाम से पहिचाना जाने लगा। पुनः जो व्यक्ति वहाँ जाकर धर्म-साधना करने लगे अथवा सन्त रहने लगे वे स्थान-वास करने वाले=स्थान में वास करने वाले होने से स्थानकवासी कहलाने लगे तथा उन सन्तों के अनुयायी स्थानकवासी समाज के नाम से प्रसिद्ध होते गये। जब यह नया नाम प्रसिद्ध एवं लोकप्रिय हो गया तो लोंकागच्छ नाम गौण बन गया और स्थानकवासी ही प्रचलन में रह गया, जो अभी भी चल रहा है। इसके पीछे जो धार्मिक मान्यताएँ एवं भावनाएँ हैं, वे सब अपने स्थान पर यथावत् हैं। उनका सम्बन्ध तो स्वाभाविक ही जुड़ गया। एक नाम "ढूंढ़िया" भी मिलता है जिसके सम्बन्ध में यहाँ विचार करना उचित प्रतीत नहीं होता है। यह द्वेषवश उपहास करने के लिए विरोधियों के द्वारा दिया हुआ शब्द है।

धर्मवीर लोंकाशाह के स्वर्गवास की तिथि के सम्बन्ध में भी पर्याप्त मतभेद है। स्वर्ण जयंती ग्रन्थ में उनके स्वर्गवास के सम्बन्ध में निम्नानुसार विवरण दिया गया है, "अपने जीवनकाल में किसी भी क्रान्तिकार की प्रतिष्ठा नहीं होती। सामान्य जनता उसे एक पागल के रूप में मानती है। यदि वह शक्तिशाली होता है तो उसके प्रति ईर्ष्या से भरी हुई विष की दृष्टि से देखा जाता है और उसे शत्रु के रूप में मानती है। लोंकाशाह के सम्बन्ध में भी ऐसा ही बना। जब वे दिल्ली से लौट रहे थे तब बीच में अलवर में मुकाम किया। उन्होंने अट्ठम (तीन दिन का उपवास) का पारणा किया था। समाज के दुर्भाग्य से श्री लोंकाशाह का प्रताप और प्रतिष्ठा नहीं सही जाने के कारण उनके शिथिलाचारी और ईर्ष्यालु विरोधी लोगों ने उनके विरुद्ध कुचक्र रचा। तीन दिन के इस उपवासी तपस्वी को पारणे में किसी दुष्ट-बुद्धि के अभागे ने विषयुक्त आहार बहरा दिया। मुनिश्री ने इस आहार का सेवन कर लिया। औदारिक शरीर और वह भी जीवन की लम्बी यात्रा से थका हुआ होने के कारण उस विष का तात्कालिक असर होने लगा। विचक्षण पुरुष शीघ्र ही समझ गये कि उनका अन्तिम काल समीप है, किन्तु महामानव मृत्यु से घबराता नहीं है। वे शान्ति से सोगये और चौरासी लाख जीव योनियों को क्षमा कर शुक्लध्यान में लीन हो गये। इस प्रकार इस युग सृष्टा ने अपने जीवन से नये युग को अनुप्राणित करके चैत्र शुक्ला एकादशी सं० १५४६ तारीख १३ मार्च १४९० को देवलोकवासी हुए।"[३९] धर्मवीर लोंकाशाह के स्वर्गगमन की विभिन्न विचार-धाराओं का समन्वय करते हुए विदुषी महासती चन्दनाकुमारी जी ने लिखा है, "धर्मप्राण श्री लोंकाशाह के स्वर्गवास के विषय में भी अनेक मतभेद हैं। यतिराज भानुचन्द्रजी का मत है कि धर्मवीर लोंकाशाह का स्वर्गवास विक्रम संवत् १५३२ में हुआ था। लोंकागच्छीय यति श्री केशवजी उनका स्वर्गवास ५६ वर्ष की अवस्था में वि० सं० १५३३ में मानते हैं। वीरवंशावली में उनका स्वर्गवास काल १५३५ माना है। प्रभु वीर पट्टावली के लेखक श्री मणिलालजी महाराज ने लोंका-

३८ हमारा इतिहास, पृष्ठ १०५-१०६

३९ वही, पृष्ठ ४०-४१

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शाह के स्वर्गवास का समय १५४१ निर्धारित किया है। ये सभी प्रमाण एक-दूसरे से भिन्न हैं। इनमें १५४१ का काल ही उचित लगता है। उनके स्वर्गवास के विषय में भी अनेक धारणाएँ प्रचलित हैं। कोई तो उनकी स्वाभाविक मृत्यु मानते हैं। कोई उन्हें विरोधियों द्वारा विष देकर मारा गया बताते हैं। इनमें दूसरे 'विष-प्रसंग' के प्रमाण अधिक पुष्ट मिलते हैं। एक प्रमाण में उनका स्वर्गवास स्थान अलवर माना गया है।"[४०] श्री पारसमल प्रसून भी उनकी मृत्यु विष प्रसंग से मानते हैं।[४१] इस प्रकार प्रचलित इन विभिन्न विचारधाराओं से हम किसी भी निष्कर्ष पर तब तक नहीं पहुँच सकते हैं जब तक कि कोई पुष्ट प्रमाण उपलब्ध न हो। फिर भी हमें वि० सं० १५४६ में मृत्यु होना कुछ विश्वसनीय लगता है।

पता—डा० तेजसिंह गौड़

छोटा बाजार, उन्हेल, जिला उज्जैन (म०प्र)

जिनकी शताब्दी है।

जैन दिवाकर चौथमलजी महाराज गुणवान।
जिनकी शताब्दी है, चमके वे सूर्य समान ॥टेर॥
महा मालव में "नीमच" नगरी सुन्दर है।
"गंगारामजी" पिता है, माता "केशर" है ॥
"चौरडिया कुल" धन्य हो गया पा ऐसी संतान ॥१॥
जीवन में यौवन गुलाब सा मुस्काया।
विवाह किया पर रति-पति नहीं लुभा पाया ॥
सुन्दर पत्नी छोड़ के निकले ले उद्देश्य महान ॥२॥
सदियों में कोई ऐसे संत नजर आते।
जिनके चरणों में पर्वत भी झुक जाते ॥
वाणी में जिनकी जादू हो, मन में जन-कल्याण ॥३॥
पतितों को पावन कर, प्रभु से जोड़ दिया।
वाणी सुनकर पाप पंथ कई छोड़ दिया ॥
अग्नि शीतल नीर बनाई, पिघलाये पाषाण ॥४॥
तन जैसा ही मन निर्मल, उन्नत विशाल था।
करुणा भरा हृदय था कोमल, भव्य भाल था ॥
आत्मानन्द की आभा देती मधुर वदन मुस्कान ॥५॥
योगी-तपसी-पंडित कई मिल जाते हैं।
सतगुरु "केवलमुनि" पुण्य से पाते हैं ॥
जिनका कुटिया से महलों तक गूँजा गौरवगान ॥६॥

—श्री केवलमुनि

---

४० हमारा इतिहास, पृष्ठ १०१

४१ मुनिश्री हजारीमल स्मृति ग्रन्थ, पृष्ठ १८३

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org